।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक सातवाँ

६७

कार्तिक
२४७७

क्षण लाखों का जा रहा है।

हे जीव! मिथ्याबुद्धि की गोद में तू अनादिकाल से सो रहा है; अब, श्री आचार्यदेव तुझे अपने प्रभुत्व की महिमा गाकर जागृत करते हैं, तू अपने प्रभुत्व का अस्वीकार करे, यह नहीं चलेगा। यह किसकी लगा रखी है? त्रिलोकीनाथ सिद्ध भगवान जिस पद को प्राप्त हुए, वही तेरा पद है,–ऐसे तेरे गीत गाये जा रहे हैं। शास्त्र भी तेरे गीत गाते हैं; जाग रे जाग! क्षण लाखों का जा रहा है!

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

इस अंक के लेख

१- अरिहन्त भगवान का किया हुआ स्वतन्त्रता का उपदेश
२- आत्मा का स्वास्थ्य
३- धर्मात्मा की निःशंकता
४- यथार्थ महत्ता काहे में है?
५- धन्य जीवन
६- भव का पार पाने के लिए अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट करो।

श्री सद्गुरु–प्रवचन–प्रसाद

श्री ''सद्गुरु-प्रवचन-प्रसाद'' नाम की हस्तलिखित सचित्र दैनिक पत्रिका (गुजराती भाषा में) भाद्रपद शुक्ला पंचमी से प्रकाशित हो रही है; उसका मासिक मूल्य ६-०-० रुपया है। परमपूज्य सद्गुरुदेव की अमृतवाणी का लाभ प्रतिदिन मिल सके–ऐसी सोनगढ़ से बाहर रहनेवाले अनेक जिज्ञासुओं की भावना थी; इससे अनेक ग्रामों के मुमुक्षुमण्डलों ने मिलकर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रतिदिन के प्रवचनों की प्रसादीरूप से उपर्युक्त पत्रिका प्रगट करने की योजना बनायी है। इस पत्रिका में पूज्य स्वामीजी के प्रतिदिन के तात्विक प्रवचनों को लगभग दो पृष्ठों में प्रकाशित किया जाता है, और वह पाठकों को भेजी जाती है। इसलिए जिन जिज्ञासुओं को पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों की प्रसादी प्रतिदिन प्राप्त करने की भावना हो उन्हें ६-०-० रुपया भरकर ग्राहक बन जाना चाहिए। यदि ग्राहक बढ़ें तो इस पत्रिका का मूल्य कम करने की भावना है। इस पत्रिका की मर्यादित प्रतियाँ ही प्रगट होती हैं, इसलिए ग्राहकों को शीघ्र ही नाम लिखा देने के लिए प्रार्थना है। छोटे-बड़े अधिकांश ग्रामों में मुमुक्षुमण्डलों में इस पत्रिका का स्वाध्याय होता है। जिन्हें पत्रिका का नमूना देखने की इच्छा हो तो वे पत्र लिखकर मँगा सकते हैं।

खीमचन्द जेठालाल सेठ
सोनगढ़(सौराष्ट्र)

कार्तिक
२४७७

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–७

अरिहन्त भगवान का किया हुआ स्वतन्त्रता का उपदेश

[वीर सं० २४७६ में राजकोट शहर में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ, उसमें फाल्गुन शुक्ला ११ के दिन केवलज्ञान-कल्याणक-प्रसंग पर भगवान की दिव्यध्वनि के उपदेश के साररूप पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

चैतन्यमूर्ति शुद्ध परिपूर्ण आत्मतत्त्व का भान करके पश्चात् उसमें लीन होने से सर्वज्ञ परमात्मपदशा प्रगट होती हैं। भगवान सर्वज्ञदेव अपने ज्ञान में तीनकाल, तीनलोक को एक समय में प्रत्यक्ष स्पष्ट भिन्न-भिन्न जानते हैं। जैसा वस्तुस्वरूप ज्ञान में ज्ञात हुआ, वैसा ही दिव्यध्वनि द्वारा कहा गया। मैं उपदेश करूँ–ऐसी इच्छा के बिना ही सहजरूप से दिव्यध्वनि सर्वांग से छूटती है। जब तक इच्छा हो, तब तक दिव्यध्वनि नहीं होती, परन्तु क्रम और भेदवाली वाणी होती है। इच्छा का नाश होकर सर्वज्ञदशा प्रगट होने के पश्चात् अभेदवाणी होती है। तीर्थङ्कर भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्र केवलज्ञान-कल्याणक महोत्सव करते हैं, समवशरण की रचना करते हैं, बारह सभाएँ भरती हैं और भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है; उस दिव्यध्वनि में भगवान ने क्या उपदेश किया?

यह विश्व चेतन और अचेतन पदार्थों से रचित है। अनन्त आत्मा हैं, वे चेतन हैं और आत्मा के अतिरिक्त अन्य पाँच अचेतन द्रव्य हैं। इस जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और असंख्य कालाणु–ऐसे छह प्रकार के द्रव्य हैं, वे सर्वज्ञज्ञान में प्रत्यक्ष भासित हुए और वाणी द्वारा कहे गये। यह छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं, कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है–ऐसा भगवान के ज्ञान में या वाणी में नहीं आया था।

भगवान ने स्वाश्रयभाव प्रगट करके अपने आत्मा में सर्वज्ञता की, पर के लिए कुछ नहीं किया। भगवान किसी पर को सहायता नहीं करते; क्योंकि सामनेवाला जीव ऐसा पराधीन नहीं है कि उसे किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता हो। भगवान ने भक्तों को उबारा, भक्तों की

संकट के समय सहायता की–इस प्रकार के जितने कथन हों, वे सब आरोप से व्यवहार के कथन हैं। किसी तत्त्व में किसी तत्त्व को कुछ लेने-देने की शक्ति तीनकाल में नहीं है। कोई किसी को लाभ या हानि करता है, वह बात उपचार की है–अर्थात् वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है। मैं पर की सहायता करूँ–ऐसा जिसने माना, उसने परपदार्थों को स्वतन्त्र नहीं, किन्तु पराधीन माना है; और पर मुझे सहाय करता है–ऐसा माना, उसने अपने को स्वतन्त्र नहीं माना परन्तु पराश्रित पराधीन माना है, ऐसी स्व-पर की पराधीनता की मान्यता से जीव संसार में परिभ्रमण करता है। भगवान की दिव्यध्वनि कहती है कि प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई तत्त्व दूसरे तत्त्व के आधीन नहीं है।

प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञ होने की शक्ति भरी है, शक्तिरूप से सब भगवान हैं परन्तु भगवान आत्मा को अनादि से अपने स्वभाव का अज्ञान है, इससे विकार को अपना स्वरूप मानता है। आत्मा की अवस्था में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह विकार है, धर्म नहीं है। देह की क्रिया तो जड़ है, उसमें धर्म या अधर्म नहीं है। धर्म या अधर्म तो आत्मा की अवस्था में होता है। विकार को अपना स्वरूप मानकर कर्ता हो वह अधर्म है और विकाररहित ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निर्मल अवस्था प्रगट हो, वह धर्म है। जीव को अपने स्वभाव के अज्ञानपने से जो पुण्य-पाप का कर्त्ताकर्मपना है, उसे भगवान धर्म नहीं कहते। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि छोड़कर, विकार का कर्ता होकर पुण्य-पाप की वृत्तियों को अपने कर्मरूप करे, उसे भगवान अधर्म कहते हैं। विकार द्वारा धर्म हो–यह बात सर्वज्ञ के ज्ञान में नहीं आयी, वाणी में भी वैसा नहीं आया और वस्तुस्वरूप भी वैसा नहीं है। अनादि का अज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान कैसे हो? उसकी बात इस समयसार गाथा ७१ में है।

विकार, वह मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता–ऐसी जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, वह अज्ञान है और उससे जीव संसार में परिभ्रमण करता है–ऐसा श्री आचार्यदेव ने कहा; वह सुनकर पात्र शिष्य आतुरता से पूछता है कि हे नाथ! यह कर्ताकर्म का अज्ञान किस प्रकार दूर किया जाये? प्रभो! हमारा यह अज्ञान कैसे दूर हो? अज्ञान दूर करने का उपाय क्या है? अपने में अज्ञान को दूर करने की तत्परता प्रगट हुई है–पात्रता हुई है, और सामने निमित्त भी खड़ा है; इसलिए शिष्य आतुरता से पूछता है कि प्रभो! यह अनादि का अज्ञान अब किस प्रकार दूर हो? वह बतलाइये! आत्मा ज्ञाता-दृष्टा चिदानन्दस्वरूप है, विकार उसके स्वरूप में नहीं है, तथापि पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह मेरा कर्तव्य और मैं उसका कर्ता–ऐसा जो अज्ञानी का पाखण्ड भाव अनादि से है, वह कैसे दूर हो? उस समय श्री आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि–हे भाई! आत्मा और विकारीभावों को भिन्न-भिन्न जानने से विकार के कर्ताकर्मपने का अनादि का अज्ञान दूर हो जाता है, इसलिए

भेदविज्ञान ही उपाय है। मैं शुद्धस्वभाव का अखण्ड पिण्ड हूँ, पुण्य-पाप के भाव, वह विकार है– बन्धन है–अशुचि हैं; हिंसादि पाप तो विकार है ही, और आत्मा के भाव में पूजा, भक्ति, दान इत्यादि पुण्यपरिणाम हों, वह भी विकार है; मेरा चैतन्यस्वभाव उस विकार से रहित है – इस प्रकार विकार से भिन्न चैतन्यस्वभाव का भान होने से अज्ञान दूर होता है।

इस समय महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् श्री सीमन्धर भगवान केवलज्ञान पद पर विराज रहे हैं। सीमन्धर परमात्मा ने समवशरण में दिव्यध्वनि द्वारा जो वस्तुस्वरूप कहा, उसकी घोषणा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस समयसार में की है। कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु महाविदेह में सर्वज्ञ परमात्मा श्री सीमन्धर भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन तक रहे थे और भगवान की दिव्यध्वनि सुनी थी। उसके पश्चात् इस भरतक्षेत्र में आकर यह समयसार आदि महान शास्त्र रचे हैं; उनमें जन्म-मरण का रोग दूर करने की अपूर्व औषधि आचार्यभगवान बतला रहे हैं।

अहो! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, स्वयं सुखस्वभावी है। किन्हीं इन्द्रिय-विषयों में इसका सुख नहीं है, स्वर्ग में सुख नहीं है, पुण्य में सुख नहीं है। आत्मा का सुख पर में नहीं है, और आत्मा का दुःख भी पर में नहीं है। पर के लक्ष्य से जो पुण्य-पाप के विकारी भाव होते हैं, वे आस्रव हैं, आकुलत हैं, मलिन भाव हैं, दुःखरूप हैं और भगवान आत्मा तो आकुलतारहित पवित्र और सुखरूप है। इस प्रकार आत्मा का और आस्रवों का भेद जानना, वह सम्यग्ज्ञान का उपाय है। अन्तर स्वभाव की दृष्टि से ऐसा भेदज्ञान करना ही अज्ञान दूर करने का उपाय है।

शरीर-मन-वाणी, वे जगत के जड़ की पर्यायें हैं; पुद्गलद्रव्य कर्ता होकर उन अवस्थाओं को करता है, आत्मा में उन्हें करने की शक्ति नहीं है। भगवान सर्वज्ञदेव ने पुद्गल को जड़ में बतलाया है। वह द्रव्य जड़ है, उसके गुण जड़ हैं और उसकी अवस्थाएँ भी जड़ हैं। उसके द्रव्य-गुण-पर्यायों से आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न हैं। आत्मा उस जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय में कुछ करता नहीं है। आत्मा अज्ञानभाव से अपनी अवस्था में विकारभाव करके उनका कर्ता होता है और ज्ञानभाव से अपनी निर्मल अवस्था को करता है। आत्मा की पर्याय में होनेवाला विकार भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, इससे उस विकार का कर्ता भी मिथ्यादृष्टि है और जड़ का कर्तृत्व माने, वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है।

एक भी जड़ की दशा आत्मा के शुभपरिणाम के कारण नहीं बदलती। भगवान के निकट शरीर नमे या हाथ जोड़ने की क्रिया हो, वह आत्मा के शुभपरिणामों के कारण नहीं होती। जड़ की अवस्था होने की शक्ति जड़ में है। आत्मा तो वीतरागी स्वभाव की शक्तिवाला है, उसमें तो पुण्यभाव को प्रगट करने का भी स्वभाव नहीं है। पुण्यभाव से धर्म माने, वह मिथ्यादृष्टि है।

भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी में ऐसा आया कि चैतन्यतत्त्व को चूककर कर जो पुण्य-पाप का कर्ता हो, उसे हम जैन नहीं कहते क्योंकि शुद्ध आत्मा की दृष्टि द्वारा उसने पुण्य-पाप को नहीं जीता, परन्तु विकार को अपना स्वरूप मानकर स्वयं विकार द्वारा जीता गया, इससे वह जैन नहीं है। जैनकुल में जन्म लिया, इससे कहीं वास्तव में जैन नहीं कहलाता। जैसे-थैली पर मिश्री नाम लिखा हो और अन्दर चिरायता भरा हो, इससे कहाँ चिरायता मीठा नहीं हो जाता; उसी प्रकार नाम से तो जैन कहलाये परन्तु अन्तर में आत्मा को पुण्य-पाप का कर्ता माने, उसे सर्वज्ञदेव जैन नहीं कहते; पुण्य-पाप रहित ज्ञातास्वभाव में एकत्वदृष्टि से आत्मा निर्मल अवस्था का कर्ता होता है, वह जैन है। आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा एकरूप स्वभाव है, उसकी ओर झुकने से ज्ञानस्वभाव में एकताबुद्धि होती है तथा राग और ज्ञान की एकताबुद्धि दूर होती है, वह धर्म है। ऐसा धर्मी जीव वास्तव में राग का कर्ता नहीं होता, परन्तु अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों को ही करता है।

आत्मा स्वयं अपने को भूलकर हैरान होता है, कोई दूसरा उसे हैरान नहीं करता; परन्तु पर मुझे हैरान करता है, पर मुझे विकार कराता है—ऐसा अज्ञान, आत्मा की अवस्था में अनादि का है। वह अज्ञान प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी स्व-पर के भेदज्ञान से उसका नाश हो जाता है।

आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध है, परन्तु पर का मैं करता हूँ और विकार मैं करता हूँ—ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण वह अपने स्वभाव की ओर नहीं ढ़लता परन्तु आकुलता में ही भ्रमण करता है। आत्मा के भान बिना पुण्य-पाप से धर्म मनायें, देह की क्रिया में धर्म मनायें—वे सब आत्मा के स्वभाव का घात करनेवाले आत्मघातकी हैं, और वह विपरीतमान्यता रखकर जो कुछ करे, वह सब इकाई-रहित शून्य के समान व्यर्थ है।

परपदार्थ के कार्य को मैं करता हूँ—ऐसा जो माने, वह अपनी पर्याय में मिथ्याभाव को उत्पन्न करता है, परन्तु पर के कार्य का तो कर्ता नहीं हो सकता। आत्मा अपनी अवस्था में एक समय का विकार या अविकारभाव कर सकता है; परन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि अपनी अवस्था में एक समय पर्यन्त के विकार का जो कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। मैं अखण्ड ज्ञानमूर्ति पवित्र हूँ—ऐसे स्वभावसन्मुख भाव में रुकने से विकार के कर्ताकर्म की प्रवृत्तिरूप अज्ञान दूर हो जाता है और आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलभाव का कर्ता होता है, इसका नाम धर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से कोई धर्म मानते हों या धर्मी का कोई दूसरा कार्य मानते हों तो वह उनकी कल्पना है, भगवान के आगम वैसा नहीं कहते।

मेरा वर्तमान विकार पर के कारण होता है, कर्म का उदय मुझे विकार कराता है—ऐसा जिसने माना, उसने तो वर्तमान अंश को भी स्वतन्त्र नहीं माना; इसलिए उसे तो वर्तमान अंश को

त्रिकाली अखण्ड द्रव्य की ओर उन्मुख करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का अवकाश ही नहीं रहा। मेरी अवस्था में विकार होता है, वह कोई पर नहीं कराता परन्तु मैं ही अपने अपराध से करता हूँ–इस प्रकार अंश को तो स्वतन्त्र माने, परन्तु इस अंश जितना ही सम्पूर्ण आत्मा की माने तो उसे भी त्रिकाली स्वभाव की ओर ढ़लना नहीं रहता; इसलिए वह भी मिथ्यादृष्टि है। अपने वर्तमान अंश को स्वतन्त्र मानकर पश्चात् उस विकारी अंश के कर्तापने की मान्यता भी उड़ाकर अभेदस्वभाव सन्मुख होना, उसे भगवान ने धर्म कहा है।

आज भगवान का केवलज्ञान-कल्याणक है। केवलज्ञान होने के पश्चात् दिव्यध्वनि में भगवान ने स्वतन्त्रता का क्या उपदेश किया, उसकी यह बात है। भगवान महावीर को वैशाख शुक्ला १० वीं के दिन केवलज्ञान हुआ, परन्तु कोई गणधर न होने से छियासठ दिन तक वाणी रुकी रही–ऐसा कथन आता है; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वाणी, वाणी के कारण ही रुकी है; उस समय परमाणु में वैसी वाणीरूप होने का स्वकाल ही नहीं था; और जब वाणी छूटी तब, वह स्वकाल से छूटी है। गौतमगणधर आये, इसलिए वाणी छूटी–ऐसा नहीं है। गणधर आये, वह कर्ता और वाणी प्रगट हुई, वह उसका कर्म–ऐसा कर्त्ताकर्मपना नहीं है। और भगवान कर्ता तथा वाणी उसका कर्म–ऐसा भी नहीं है। सभी स्वतन्त्र हैं। योग का कम्पन, गौतम का आगमन और वाणी का खिरना–इन सबका एक काल होने पर भी प्रत्येक कार्य स्वतन्त्र है; कोई एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं।

पर्यायबुद्धि से–'मैं विकार का कर्ता और विकार मेरा कार्य, अर्थात् मैं विकार से पृथक् नहीं हूँ, परन्तु विकार ही मैं हूँ'–ऐसी मिथ्या कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अज्ञानी को प्रवाहरूप अनादि से है, परन्तु वह जीव का स्वभाव नहीं है, वह तो प्रतिक्षण अज्ञान के कारण नवीन उत्पन्न हुई है। नवीन उत्पन्न हुई है, इसलिए वह दूर हो सकती है। जीव उत्पन्न करे तो वह होती है, नहीं तो नहीं होती। स्वभावोन्मुख होने से 'विकार का मैं कर्ता और विकार मेरा कर्म'–ऐसी कर्त्ताकर्म की उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु निर्मल वीतरागी परिणाम की उत्पत्ति होती है। आत्मा के अपराध में कर्म का उदय तो निमित्तमात्र है, वह कहीं जीव को विकार नहीं कराता। कर्म के कारण आत्मा में विकार होता है, वह बात तीनकाल में सत्य नहीं है। जीव स्वयं अपने अपराध से अज्ञान करता है, तथापि अनादिकाल से कर्म के कारण अज्ञान होता है–ऐसा मानना है, वह महान अज्ञान है। भगवान अरिहन्त परमात्मा कहते हैं कि समस्त पदार्थ स्वतन्त्र हैं; कोई दूसरे को विकार नहीं कराता और कोई किसी पर प्रभाव डाले अथवा सहायता करे–ऐसी शक्ति तीनकाल, तीनलोक में किसी पदार्थ में नहीं है। जिस प्रकार पदार्थ को किसी ने बनाया नहीं है, परन्तु स्वयं सिद्ध है,

उसीप्रकार उसकी अवस्था भी प्रत्येक समय की स्वयं सिद्ध स्वतन्त्र है, दूसरा उसमें कुछ नहीं करता। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय को स्वतन्त्र जाने तो अपने स्वभाव की ओर ढ़ले बिना न रहे।

श्री आचार्यभगवान समयसार की पहली गाथा में कहते हैं कि मैं सिद्ध हूँ, तुम सिद्ध हो! **'वंदित्तु सव्व सिद्धे'** अर्थात् सर्व सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। अपने और तुम्हारे आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करता हूँ। जो सिद्ध के हो, वह तेरे होता है, जो सिद्ध के न हो, वह तेरा स्वभाव भी नहीं है। इसलिए विकार मेरा कर्तव्य–ऐसी मान्यता को छोड़! आत्मा में परमात्मपने की स्थापना करके तू श्रवण करना। इस प्रकार परमात्मपने की स्थापना करके आचार्यदेव ने प्रारम्भ किया है। यही धर्म के प्रारम्भ का उपाय है।

सिद्ध भगवान को ही आत्मा के आदर्शरूप में–दर्पणरूप में स्थापित किया है। इसलिए जैसे सिद्ध वैसा ही मैं–इस प्रकार विकार और अपूर्ण दशा में एकत्वबुद्धि छोड़कर सिद्ध समान अपने आत्मा की श्रद्धा प्रगट करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन धर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से मिथ्यात्व दूर नहीं होता। अनादि के अज्ञान की निवृत्ति का और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का उपाय सिद्ध भगवान जैसे अपने आत्मा की श्रद्धा करना है; अन्य कोई बाह्य क्रियाकाण्ड या शुभराग, वह उपाय नहीं है। शुभराग कारण और धर्म कार्य–ऐसा कार्यकारणपना तीनकाल में नहीं है; क्योंकि शुभराग, वह विकार है और धर्म, अविकारी है; विकार अविकारीपने का कारण कैसे हो? शास्त्र में किसी स्थान पर शुभराग को या व्यवहार को धर्म का साधन कहा हो तो वह उपचार का कथन है। वास्तव में शुभराग, धर्म का साधन नहीं है। विकार के कर्ताकर्म की प्रवृत्ति, वह अधर्म है और स्वभावसन्मुख होकर आत्मा और आस्रवों को भिन्न जानने से वह कर्ताकर्म की प्रवृत्ति दूर होती है और अज्ञान का नाश होता है; इससे बंधन का नाश होकर मुक्ति होती है। सर्व अरिहन्त भगवान इसी उपाय से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आज से पूर्व अनन्त जीवों ने केवलज्ञान प्रगट करके मुक्ति प्राप्त की है, इस समय भी महाविदेहक्षेत्र से छह महीने और आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष जा रहे हैं और भविष्य में भी अनन्त जीव मोक्ष प्राप्त करेंगे; उन सब जीवों के लिए यह एक ही मोक्ष का उपाय है। सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि का आशय अल्प शब्दों में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि ज्ञानमात्र से ही बन्धन का निरोध होता है। 'ज्ञानमात्र' कहने से उसमें आत्मोन्मुख श्रद्धा, चारित्र आदि भी आ जाते हैं। राग का अभाव बतलाने के लिए 'ज्ञानमात्र'–ऐसा कहा है। ज्ञान के साथ सम्पूर्ण आत्मा अभेद समझना चाहिए। आत्मा की श्रद्धा–ज्ञान–एकाग्रता के अतिरिक्त अन्य कोई मुक्ति का मार्ग तीनकाल में नहीं है।

''अेक होय त्रणकालमां परमारथनो पंथ,
प्रेरे जे परमार्थ ने ते व्यवहार समन्त''

अखण्डानन्द स्वभाव का भान करके, उसका मनन करने की वृत्ति उठे, उसे व्यवहार कहा जाता है; परन्तु उस व्यवहार के अवलम्बन से अन्तर के परमार्थ में प्रविष्ट नहीं हुआ जा सकता। जहाँ तक राग का लक्ष्य रहे, वहाँ तक अभेद आत्मा का अनुभव नहीं होता। व्यवहार है, वह राग है; उसका आश्रय छोड़कर रागरहित स्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान करे, वह धर्मी है। मुनिदशा या श्रावकदशा से पूर्व अन्तर में अविरत सम्यग्दर्शन-चतुर्थ गुणस्थान प्रगट होने पर ऐसी दशा होती है, उस जीव को अन्तर में 'मैं विकार का कर्ता और विकार मेरा कार्य'–ऐसी विकार के कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति नहीं रहती। ऐसी दृष्टिवाला धर्मात्मा स्वसन्मुख परिणमन से क्रमशः राग का नाश करके सर्वज्ञ होता है। इसी मार्ग से सर्वज्ञ हुआ जाता है।

भगवान ने सर्वज्ञज्ञान से जगत में प्रत्येक पदार्थ को स्वतन्त्र जाना है, और प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्रता का उपदेश दिव्यध्वनि में आया है। प्रत्येक वस्तु के अनन्त गुणों को भी भगवान ने स्वतन्त्र कहा है। एक वस्तु दूसरी वस्तु को तो सहायता नहीं करती, परन्तु एक वस्तु में विद्यमान अनन्त गुणों में भी एक गुण दूसरे गुण को उपादानरूप से सहायता नहीं करता। आत्मा में जिस क्षण सम्यक्श्रद्धा प्रगट हो, उसी क्षण सम्यक्चारित्र पूर्ण प्रगट हो जाये–ऐसा नहीं होता। वैसे ही बारहवें गुणस्थान से यथाख्यातचारित्र प्रगट होने पर भी ज्ञानगुण पूर्ण परिणमित नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक गुण भी स्वतन्त्र है। सम्यक्श्रद्धा हो, उसी क्षण सम्पूर्ण चारित्र होना चाहिए और राग का त्याग होना चाहिए–ऐसा जो माने, उसे श्रद्धा आदि गुणों की स्वतन्त्रता की खबर नहीं है। वस्तुरूप से समस्त गुण अभेद होने पर भी प्रत्येक गुण के परिणमन में स्वतन्त्रता है।

सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें–शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ–यह तीनों तीर्थङ्कर भगवान चक्रवर्ती थे; छह खण्ड का राजवैभव संयोगरूप था और अस्थिरता के कारण राग भी था; तथापि अन्तर में एक क्षण भी सम्यक्श्रद्धा नहीं हटती थी। राग होने पर भी अन्तर में ऐसी सम्यक् श्रद्धा थी कि–'यह राग मैं नहीं हूँ, यह मेरा कर्तव्य नहीं है, राग है, वह स्त्री आदि परद्रव्य के कारण नहीं है।' ऐसी सम्यक्श्रद्धा होने पर भी अभी चारित्रदशा प्रगट नहीं हुई थी, क्योंकि श्रद्धा और चारित्र दोनों गुणों का परिणमन स्वतन्त्र है, प्रत्येक गुण स्वतन्त्र है; इसलिए श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि सभी गुण एक साथ प्रगट नहीं होते। सम्यक्श्रद्धा प्रगट होने पर चारित्र के विकार का भी तुरन्त नाश हो जाये–ऐसा नहीं होता। श्रद्धा में तो विकाररहित परिपूर्ण चारित्र का ही स्वीकार हुआ है; तथापि चारित्रगुण बिल्कुल निर्विकाररूप से परिणमित नहीं होता; उसी प्रकार श्रद्धा में तो

सम्पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव आया है, परन्तु ज्ञान अभी सम्पूर्ण परिणमित नहीं होता। इस प्रकार वस्तु स्वतन्त्र है और वस्तु के अनन्त गुण भी स्वतन्त्र हैं। यह तो आत्मा के अन्तर के गुणों की बात है। अभी तो लोग बाह्य की स्थूल बातों में रुके हैं। कर्म के कारण विकार होता है, और विकार से आत्मा को लाभ होता है—ऐसी मान्यताएँ तो स्थूल मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन होने पर भी प्रमाद के कारण राग होता है, वह राग कहीं कर्म के उदय के कारण नहीं होता। जड़ कर्म तो निमित्तमात्र है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरस्वभाव की दृष्टि में उस राग का भी कर्ता नहीं होता—ऐसा सम्यग्दृष्टि के अन्तर का परिणमन बताने के लिए शास्त्रों में ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को जो राग है, वह कर्म के उदय की बलजबरी से है। कर्मों का उदय आत्मा को विकार कराता है—ऐसी स्थूल मिथ्यादृष्टि दूर हो जाने के पश्चात् स्वभाव की अन्तर्दृष्टि का वह कथन है। अखण्डानन्द ज्ञानमूर्ति स्वभाव की दृष्टि से ज्ञानी तो पग-पग पर स्वभाव की शुद्धि को प्रगट करते हैं; और अज्ञानी 'मैं विकार का कर्ता अथवा पर मुझे विकार कराता है'—ऐसी बुद्धि से पग-पग पर आत्मा की शुद्धता का घात करते हैं और विकार उत्पन्न करते हैं।

जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य और उसके गुण स्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार उसकी अनादि-अनन्त काल की प्रत्येक अवस्था भी स्वतन्त्र है। विकार कोई पर नहीं कराता, परन्तु मेरी पर्याय की स्वतन्त्रता से होता है—इतनी स्वतन्त्रता स्वीकार करने के पश्चात् मेरे त्रिकाली स्वभाव में वह एक समय का विकार नहीं है और विकार में मेरा स्वभाव नहीं है—ऐसी प्रतीति करे, तब धर्म का प्रारम्भ होता है और उस प्रतीति के बल से ही विकार का नाश होता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य की, प्रत्येक गुण की और प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता भगवान ने दिव्यध्वनि में घोषित की है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की ऐसी स्वतन्त्रता जानकर अपने स्वभावसन्मुख होना, उसे भगवान मोक्ष का उपाय कहते हैं।

आत्मा का स्वास्थ्य

[महिका ग्राम में वैशाख शुक्ला ४ के दिन पद्म. एकत्व अधिकार गाथा ६४ पर
पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

साम्यभाव ही शुद्ध आत्मा की उपासना का उपाय है–ऐसा ६३ वें श्लोक में कहा। आत्म स्वभाव का भान होकर ज्ञातभाव-वीतरागभाव प्रगट हो, उसका नाम साम्यभाव है। स्वास्थ्य, समाधि आदि भी उस साम्यभाव के ही नाम हैं–ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं :–

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च, योगश्चेतो निरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः॥६४॥

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चिन्ता निरोध और शुद्धोपयोग–यह सब एकार्थवाचक नाम हैं।

आत्मा चैतन्यमूर्ति है, उसकी अवस्था में राग-द्वेष-अज्ञानमय विकारीभाव होते हैं, वह तो रोग है। उस विकाररहित निरोगी आत्मस्वभाव को पहचानकर, उसमें एकाग्रता द्वारा रागरहित निर्मलदशा प्रगट हो, उसे भगवान स्वास्थ्य कहते हैं। पर मेरे और शरीर मेरा, शरीर में रोग होने से मुझे रोग हुआ–ऐसी मान्यतावाले को भगवान रोगी कहते हैं। शरीर में रोग हो या शरीर कटे, उसका दुःख आत्मा को नहीं है; परन्तु चैतन्य से च्युत होकर शरीर ही मैं हूँ–ऐसी मिथ्या-बुद्धि, वह भावरोग है, और इस भावरोग से जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। विकाररहित त्रिकाल ज्ञानमूर्ति शुद्धस्वभाव है, उसे जाने, और पर्याय में क्षणिक विकार होने पर भी शुद्धस्वभाव के आश्रय से आकुलता का भाव न होने दे–वह प्रथम स्वास्थ्य है। क्षणिक विकार होने पर भी श्रद्धा में अखण्ड निरोग स्वभाव को बना रखा, वह पहला सुख है। देहबुद्धिवाले लोग कहते हैं कि– 'पहला सुख निरोगी काया' यानी शरीर स्वस्थ हो तो आत्मा को सुख हो; परन्तु यह बात मिथ्या है। शरीर है, वह आत्मा की जाति है ही नहीं; क्या जड़ शरीर में आत्मा का सुख भरा है? चैतन्यस्वभाव के सुख की दृष्टि से च्युत होकर जड़ शरीर की निरोगता में अपने सुख की कल्पना की है, उसे भगवान भावरोग अथवा भावमृत्यु कहते हैं। अन्तर में आत्मा की चैतन्य खानि में से वीतरागभाव को विकसित करने की और विकारभाव को नाश करने की जो दृष्टि तथा एकाग्रता प्रगट हुई है, उसे स्वास्थ्य अर्थात् आत्मा की निरोगता कहते हैं। शरीर में रोग हो, वहाँ उसे दूर करने के लिए कितनी चिन्ता करता है? तो आत्मा को पर में सुखबुद्धि से अनादिकाल से मिथ्यात्व का रोग लागू

हुआ है, उसे मिटाने की भी कुछ चिन्ता है? मेरा आत्मा विकाररहित शुद्ध चिदानन्द सिद्ध भगवान जैसा है, उसे अवस्था में यह राग-द्वेष-मोह के विकाररूप भावरोग क्या है? और यह संयोग की उपाधि क्या है?—इस प्रकार आत्मा की दरकार करके जिसने आत्मस्वभाव की दृष्टि और स्थिरता प्रगट करके भावरोग को दूर किया है, उसको स्वास्थ्य कहा जाता है।

तीर्थङ्कर भगवान की स्तुति करते हुए 'लोगस्स' में कहते हैं कि 'आरुग्ग बोहिलाभो, समाहि वरमुत्तमं दिंतु' अर्थात् हे भगवान! मुझे आरोग्य और बोधि का लाभ और समाधि के उत्तम वर दो। वहाँ आरोग्य अर्थात् आत्मा के भाव-आरोग्य की भावना है; परन्तु उसका जिन्हें भान नहीं है—ऐसे अज्ञानी, शरीर की निरोगता की भावना करते हैं। मेरा स्वभाव विकाररहित निरोग है और विकार, वह रोग है—ऐसा मैं जानता हूँ, इसलिए हे भगवान! मेरे आत्मा में से विकाररोग दूर हो जाये और वीतरागभावरूप आरोग्य प्राप्त हो। आत्मा की आरोग्यदशा और बोधि तथा समाधि मुझे चाहिए है—ऐसी उसमें भावना है। लोग रेकार्ड की भाँति शब्द बोल जाते हैं, परन्तु उनका भाव नहीं समझते।

अहो! यह शरीर तो यहीं पड़ा रहता है और भीतर जो ज्ञाता जीव है, वह अन्यत्र चला जाता है, वह देह से भिन्न तत्त्व है। जिसके निकल जाने के बाद इस शरीर को जला दिया जाता है, वह क्या वस्तु है? उसे जानना चाहिए। इस शरीर के आँख, कान इत्यादि तो जड़ हैं, वे कुछ नहीं जानते; भीतर से जो प्रकाशमय चैतन्यरत्न चला जाता है, वह कौन है? इस प्रकार देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा की पहचान करके अन्तर में उसके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र जिसने प्रगट किए, उसके समता और आरोग्य है। घर में रोग हो, वहाँ लोग कहते हैं कि अब रोग का बिस्तर उठा दो। उसी प्रकार आत्मा में अनादिकाल से अज्ञानभाव का रोग लगा हुआ है, उस रोग का बिस्तर किस प्रकार उठे? उसकी यह बात है। राग-द्वेष और शरीरादि को अपना मानकर मैं अनन्त-कालीन रोगी था, अब मैं सम्यक्-शुद्ध चिदानन्दमूर्ति ज्ञाता हूँ; राग का अंश या शरीर की क्रिया मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा यथार्थ भान प्रगट करके जिसने अज्ञान का नाश किया, उसने अनादिकालीन रोग का बिस्तर उठा दिया और आत्मा का यथार्थ स्वास्थ्य प्राप्त किया।

भाई! तूने शरीर के स्वास्थ्य की चिन्ता तो अनन्तबार की, तथापि एक भी शरीर तेरे रखने से नहीं रहा। अब एकबार अन्तर में तो देख! अन्तर में देह से भिन्न तेरा चैतन्यतत्त्व है, उसकी सम्भाल करके अपने अनादि के मिथ्यात्व-रोग के बिस्तर को अब उठा दे! अहो! मैं सिद्ध भगवान की जाति का आत्मा हूँ; मेरे चैतन्य में यह माँदगी क्या? यह राग-द्वेष-मोह क्या? अपने रोग की नाड़ी पकड़ने वाला भी मैं हूँ और उसे दूर करनेवाला भी मैं ही हूँ। आत्मा से बाहर कहीं

आत्मा का रोग दूर करने का उपाय नहीं है। अपनी अवस्था के रोग को जानकर आत्मा के त्रिकाल शुद्ध निरोगी स्वभाव की ओर वीर्य बल को उन्मुख किया, वहाँ अवस्था का रोग दूर हो गया और स्वास्थ्य प्रगट हुआ, अर्थात् निर्मल वीतरागी दशा प्रगट हुई, वही समाधि है। इसके अतिरिक्त श्वास को ऊपर चढ़ा देने की क्रिया में कहीं समाधि नहीं है।

एक नाटक का विदूषक श्वास ऊपर चढ़ा गया, किन्तु उसे उतार नहीं सका; बारह बरस के बाद थेई-थेई करता हुआ उठा। इस प्रकार श्वास चढ़ा जाये, वह कहीं समाधि नहीं कहलाती। चैतन्य का भान होने के पश्चात् ज्ञाता-दृष्टारूप से आत्मा की शान्ति में लीनता प्रगट हो, वह समाधि है और योग भी वही है; क्योंकि उसमें ज्ञान के उपयोग का आत्मा के साथ एकत्व हुआ, इससे वह योग है।

आधि, व्याधि और उपाधिरहित आत्मा का भान होकर रागरहित एकाग्रता प्रगट हो, उस दशा को भगवान समाधि कहते हैं। यदि मैं न होऊँ तो मेरे ज्ञान के बिना यह सब कहाँ ज्ञात हो? ज्ञाता-दृष्टा चैतन्यस्वभावी मैं यदि आगे न होऊँ तो इन शरीरादि समस्त वस्तुओं को कौन जाने? मैं उन सब से पृथक् अपनी चैतन्यसत्ता में रहकर उनका ज्ञाता हूँ—इस प्रकार पर से भिन्न स्व की मुख्यता करके आत्मा को पहचानना और अनुकूलता-प्रतिकूलता में शान्ति रखना, वह समाधि है, और वही योग है। योग अर्थात् युक्तता। ज्ञान की आत्मा के पवित्र स्वरूप में युक्तता करने का नाम योग है। चैतन्यस्वभाव को भूलकर अनादि से पर में और विकार में अपनत्व मानकर उसमें युक्त होता है, उसके बदले पर से और विकार से भिन्न चैतन्यस्वभाव को जानकर उस में युक्तता करे—एकाग्रता करे—वह योगी है। राग है, वह मैं हूँ—ऐसा मानकर ज्ञान के उपयोग को राग में एकाकाररूप से युक्त करे, वह मिथ्यात्व है और मेरा स्वभाव त्रिकाल रागरहित है—इस प्रकार राग से पृथक् होकर उपयोग को त्रिकाली ज्ञानस्वभाव में युक्त करना, वह योग है। सम्यग्दर्शन भी योग है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि राग को अपना मानकर उसमें एकाकाररूप से लीन नहीं होते। भरत चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्यवैभव में विद्यमान होने पर भी योगी थे। उन्हें अस्थिरता के अल्प राग-द्वेष होते थे, परन्तु अन्तरस्वभाव की दृष्टि में संयोग का और राग-द्वेष का अभाव था। दृष्टि का योग चैतन्यस्वभाव में था, इससे वे योगी थे। मनुष्य हो और सिंह का रूप धारण करे, उसे लोग योग का प्रताप कहते हैं; किन्तु आत्मा के भान बिना योग कैसा? मनुष्य होकर तिर्यंच का रूप धारण किया, उसमें क्या महिमा है? मनुष्य मिटकर तिर्यंच का रूप धारण करने में यदि योग का प्रताप हो, तब तो मनुष्य मरकर तिर्यंच होना विशेष अच्छा माना जाये। परन्तु ऐसा योग का प्रताप नहीं है। योग का प्रताप तो उसे कहते हैं कि चैतन्य में एकाग्र होने से पुरुषार्थ में सिंह हो, यानी मोक्ष की ओर

का स्वभाव वीर्य प्रगट करे। जिसे अपने चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है और राग में लाभ मान रहा है, वह भले ही त्यागी हो, तथापि ज्ञानी उसे योगी नहीं कहते, क्योंकि उसने अपने ज्ञान को आत्मा के साथ युक्त नहीं किया है, परन्तु राग के साथ युक्त किया है। जिसने अपने रागरहित चैतन्यतत्त्व का भान करके ज्ञान को आत्मा के साथ युक्त किया है, वही योगी है, तथा उसी को चिन्ता-निरोध है। मैं पर के कार्य करता हूँ, पर के कारण मुझे लाभ-हानि होते हैं–ऐसा मानकर अज्ञानी जीव, आत्मा को भूलकर पर की चिन्ता में लगा हुआ है। किसी पर से मेरे आत्मा को लाभ-हानि नहीं होते, और मैं पर के कार्य नहीं कर सकता–इस प्रकार अन्तर में से बाह्य चिन्ता दूर करके स्वसन्मुख स्वभाव की दशा प्रगट करे, वह चिन्ता निरोध है; उसे साम्य कहो, स्वास्थ्य कहो, समाधि कहो, योग कहो अथवा शुद्धोपयोग कहो–यह सब नाम एकार्थवाचक हैं; और यही धर्म है तथा यही मोक्षमार्ग है। प्रतिकूल प्रसंग के समय कषाय की मन्दता से पुण्य-परिणाम रखे, वह सच्ची समता नहीं है, परन्तु चैतन्यस्वभाव से विषम परिणाम है। आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा तथा ज्ञान करके रागरहित ज्ञातारूप से रहना, उसे भगवान समता कहते हैं; शुद्धोपयोग आदि भी वही है। राग में एकाग्र होता था, वह अशुद्ध उपयोग था; राग और स्वभाव का भेदज्ञान करके स्वभाव में एकाग्र हुआ, वह शुद्धोपयोग है।

इस प्रकार साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चिन्तानिरोध, शुद्धोपयोग और धर्म –यह सब भिन्न-भिन्न नहीं हैं, परन्तु आत्मा की निर्मल अवस्था के ही सब नाम हैं। यह एकत्व अधिकार है, यानी आत्मा के पर से भिन्न एकत्व-स्वभाव को जानकर द्रव्य-पर्याय अभेद हुए उसमें साम्य, स्वास्थ्य इत्यादि सभी बोल आ जाते हैं; वही मोक्ष का कारण है।

धर्मात्मा की निःशंकता

[गतांक से आगे]

तेरे आत्मा में अज्ञानरूपी रात्रि दूर होकर ज्ञानप्रकाश विकसित हुआ है, तो अब रात्रि में विचरनेवाले शुभाशुभ कर्मरूपी निशाचर तेरा क्या करेंगे? यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि धर्मी जीव की उन्मुखता की मुख्यता कर्म के उदय की ओर नहीं है, परन्तु अपने स्वभाव की ओर ही है, इससे वास्तव में उसे पूर्व कर्मों का फल नहीं आता, परन्तु प्रतिक्षण स्वभाव ही फलता है। जगत् की किसी वस्तु में मुझे कुछ भी परिवर्तन नहीं करना है, मैं तो ज्ञाता-मुक्त हूँ—इस प्रकार जहाँ सम्यग्दृष्टि जागृत हुआ, वहाँ वह कहता है कि प्रारब्ध मुझे क्या करेगा? पूर्व का प्रारब्ध बाह्य संयोग भले ही दे, परन्तु संयोग में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि मुझे दूर हो गई है। मेरे ज्ञायकस्वभाव में जगत की समसत वस्तुएँ तो एक ज्ञेयरूप ही हैं। साक्षात् अरिहन्त भगवान हों या छुरी लेकर मस्तक काटनेवाला हो—दोनों मेरे ज्ञान के ज्ञेय ही हैं। अकरहन्त भगवान इष्ट और मस्तक काटनेवाला अनिष्ट—ऐसे दो प्रकार मेरे ज्ञानस्वभाव में नहीं है। यहाँ मेरा ज्ञायकस्वभाव एक अखण्ड है, उसमें राग-द्वेष नहीं है; उसी प्रकार सामने सब ज्ञेय भी एक ही प्रकार से हैं; यह इष्ट और यह अनिष्ट—ऐसा उनमें नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी को संयोग में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि नहीं होती। जो पदार्थ जैसा हो, उसे वैसा ही जान लेने का ज्ञान का स्वभाव है। जगत के पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है, और ज्ञान के स्वभाव में भी इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना नहीं है। एक प्रकार का (राग-द्वेष रहित) ज्ञाता स्वभाव है, उसके बदले पर में इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना करके दो भाग पाड़े, वह मिथ्यादृष्टि है। धर्मी तो जानता है कि जगत के कोई संयोग मुझे इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं; मैं तो असंयोगी, राग-द्वेषरहित ज्ञायक मुक्तस्वरूप हूँ;—ऐसी स्वभाव दृष्टि में पूर्वकर्मरूपी चोर मुझे कुछ भी करने में समर्थ नहीं है।

[पद्म० एकत्व अधिकार गाथा २८ पर मगसिर कृष्णा ३० के दिन चूड़ा शहर में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन से]

यथार्थ महत्ता काहे में है?

(वीर सं० 2475 के फाल्गुन कृष्णा 8 के दिन पिआवा ग्राम
में पूज्यश्री कानजीस्वामी का प्रवचन)

यह मँहगी मनुष्यदेह प्राप्त करके यदि देह और आत्मा के भिन्नत्व का विवेक करे तो उसकी सार्थकता मानी जाये। आत्मा के भान बिना संसार में चार गतियों के अवतारों में जीव अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। प्रत्येक जीव का अपना स्वभाव सिद्ध भगवान जैसा है; परन्तु जीव को अपने आत्मा की महानता–महत्ता भासित नहीं होती और शरीर, पैसादि पर की महत्ता भासित होती है तथा उसके द्वारा वह अपनी महत्ता मानता है। परन्तु वास्तव में उसमें कहीं भी आत्मा की महत्ता नहीं है। आत्मा की यथार्थ महत्ता काहे में है? उसका यह शिक्षापाठ श्रीमद् राजचन्द्रजी ने सोलह वर्ष की उम्र में लिखा है।

अनेक लोग लक्ष्मी से महत्ता मानते हैं, करोड़ों रुपये हों तो मैं महान सुखी हो जाऊँ – इस प्रकार लक्ष्मी द्वारा आत्मा की महत्ता मानता है, इसलिए उसका ममत्व करके उसके लिए मिथ्या प्रयास करता है और लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के पाप करता है। परन्तु यथार्थरूप से विचार करने पर जड़ लक्ष्मी में आत्मा की महत्ता नहीं है और उस में सुख नहीं है। अनादि से चैतन्य की महत्ता की चूककर, जड़ में महत्ता मानी है! अहो! अपने परम महिमावन्त ज्ञानस्वभाव से च्युत होकर जीव पर की महत्ता और ममता करता है, इसी से वह दुःखी है। लक्ष्मी से आत्मा की महत्ता नहीं है, किन्तु अज्ञानी मानता है।

और कितने ही जीव महान कुटुम्ब से अपनी महत्ता समझते हैं। परन्तु भाई! कुटुम्ब अच्छा हुआ, उसमें तेरे आत्मा को क्या? कुटुम्ब कहीं आत्मा के साथ नहीं आता। जिस आत्मा ने जैसे अच्छे या बुरे भाव किए, वैसे भावों को साथ लेकर वह चला जाता है। जीव अशुभ बुरे भाव करे तो कहीं बड़ा कुटुम्ब उसे नरक में जाने से रोक ले–ऐसा नहीं है। और कोई जीव पुत्र से या सत्ता आदि से आत्मा की महत्ता मानते हैं; परन्तु यह सब तो आत्मा से भिन्न हैं, यह कोई आत्मा के साथ आयें–ऐसा नहीं है। इससे उनके द्वारा वास्तव में आत्मा की महत्ता नहीं है।

अपने आत्मा की महत्ता काहे में है?–इसका जीव ने कभी विचार भी नहीं किया है। मैं कौन हूँ और मेरी महत्ता काहे में हैं? इस बात का विवेक करने का अवसर इस मनुष्य भव में है। अज्ञानी जिसमें महत्ता मानते हैं, उसमें वास्तव में विवेक से देखने पर महत्ता नहीं है, किन्तु लघुता

है। आत्मा की महिमा भूलकर बाह्य पदार्थों से महत्ता मानी, उसे तो पर के ममत्व के कारण पाप की गुरुता और आत्मा की लघुता होती है।

आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण सत्‌चित् और आनन्दमय है। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की महिमा को भूलकर परवस्तु का आश्रय करता है, और उससे महत्ता मानता है, वह तो आत्मा की लघुता है। जैसे–चक्रवर्ती महाराजा घर-घर भीख माँगता फिरे तो वह उसे शोभा नहीं देगा; उसी प्रकार यह चैतन्य चक्रवर्ती भगवान आत्मा अपने स्वभाव का सुख भूलकर पर में से सुख लेना चाहे, वह उसे शोभा नहीं देता; उसमें तो हीनता होती है। अनादि से जीव परवस्तु से पैसा, स्त्री, शरीरादि से अपना बड़प्पन मान रहा है, परन्तु अपनी महिमा सिद्ध भगवान जैसी है, उसे नहीं जानता। यदि अपने आत्मा की महिमा जान ले तो अन्तर में से पर की महिमा दूर हो जाये। इस मनुष्य भव में पहले आत्मा का विवेक होना चाहिए कि अहो! मेरी अनन्त महिमा तो मेरे घर में ही है, मेरी महिमा बाह्य वस्तु में नहीं है। अनन्त तीर्थङ्कर, सन्त और शास्त्रों ने भी मेरे आत्मा के स्वभाव की ही महिमा गायी है,– ऐसी मेरी महिमा है। इस प्रकार अपने स्वभाव की महत्ता समझे तो वह जीव, पुण्य में या उसके फल में आत्मा की महत्ता न माने।

खाना-पीना मिले, नौकर-चाकर मिलें, वैभव मिले–उससे आत्मा की महत्ता है–ऐसा अज्ञानी मानते हैं, परन्तु उतने से वास्तव में आत्मा की शोभा नहीं है; वे कोई वस्तुएँ आत्मा की नहीं हैं, इसलिए उनसे आत्मा की महत्ता नहीं मानना है। भाई! यह मनुष्यभव प्राप्त करके कुछ सत्‌समागम करो, विवेक करो, आत्मा की पहचान करो। लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार से पाप-प्रपंच होते हैं और मिलने के पश्चात् उससे महत्ता मानी है, इससे उसका अभिमान होता है; किसी को मूढ़ता आ जाती है, और कोई पालग हो जाते हैं। इस पाप-भाव के द्वारा तो जीव को दुर्गति के दुःख भोगना पड़ते हैं। जामनगर शहर में एक निर्धन स्त्री को लाटरी में भारी इनाम मिला; इनाम मिलने के समाचार सुनकर वह स्त्री खुशी के मारे पागल हो गई। देखो, ममता! अहा! भीतर चैतन्य भगवान विद्यमान है, परन्तु उसे भूलकर जीव बाह्य में मूर्च्छित हो रहा है। पैसे के लिए पाप करने को चौबीस घण्टे का समय निकालता है, परन्तु निवृत्ति लेकर आत्मा को समझने के लिए दो-चार घण्टे सत्-समागम का समय नहीं निकालता।

यह शरीर भी आत्मा का नहीं है, तब फिर बिल्कुल पृथक् ऐसे स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी आदि तो आत्मा के कहाँ से हों? यह शरीर तो यहीं पड़ा रहेगा, इसकी राख हो जायेगी और चैतन्य आत्मा अन्यत्र चला जायेगा। आत्मा ज्ञाता है, वह देहादि से भिन्न है। ऐसे आत्मा की पहचान करने में ही सच्ची महत्ता है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मी-पुत्र-कुटुम्ब या संसार की मान–बढ़ाई आदि में कहीं भी

आत्मा की महत्ता नहीं है, उलटा उनकी ममता से तो पाप बढ़ता है और पाप द्वारा आत्मा की नीच गति होती है। शिकार करे, परस्त्री सेवन करे, मधु-माँस खाये, मदिरा पीये–इत्यादि महापाप करनेवाले नीच नरकगति में जाते हैं; और विशेष माया-ममता आदि पाप करनेवाले पशु-तिर्यंच होते हैं; वे पशु और नरक-दोनों नीच गतियाँ हैं; इसलिए उनसे आत्मा की महत्ता नहीं है। भाई! तुझे अपना मूल्य भासित नहीं होता और बाह्य से अपनी महत्ता मान ली है। लक्ष्मी आदि प्राप्त करके कोई दानादि के शुभभाव करे तो उतने से भी आत्मा की यथार्थ महत्ता नहीं है।

आत्मा की महत्ता तो सत्य वचन से है। सत्य वचन का अर्थ क्या? जिसे वस्तुस्वरूप का सच्चा भान न हो, वह सत्य वचन नहीं बोल सकता। सत्य वस्तु क्या है, उसका भान हो तो सत्य वचन कहलाए। शरीर को अपना माने, पर की क्रिया मैं करता हूँ–ऐसा माने, राग से धर्म माने–वह सत्य नहीं कहलाता। शरीर से भिन्न आत्मा क्या है? राग-रहित आत्मा का स्वभाव क्या है? वह समझे और शरीर की क्रिया से या राग से आत्मा का धर्म नहीं होता–ऐसा समझे तो सत्य कहलाये।–ऐसे सत्य द्वारा ही आत्मा की महत्ता है। जिसे भिन्न-भिन्न अंकों की, अक्षरों की ही खबर न हो, वह हिसाब नहीं लिख सकता; उसी प्रकार मैं कौन और पर कौन–ऐसी स्व-पर की भिन्नता के भान बिना वास्तव में सत्य नहीं होता, और सत्य के बिना आत्मा की महत्ता नहीं है। आत्मा की यथार्थ प्रतीति करके भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रगट करने में ही आत्मा की महत्ता है। इसी के द्वारा जीव का संसार परिभ्रमण दूर होकर उसकी मुक्ति होती है। ऐसे आत्मभान सहित शुद्ध मुनिवरों ने आत्मा की जो महत्ता प्राप्त की है, वैसी महत्ता ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्ती ने भी लक्ष्मी, कुटुम्ब, पुत्र या अधिकार से प्राप्त नहीं की। यह मनुष्यभव पाकर सत्समागम से आत्मा की महत्ता को जानो! आत्मा की पहचान करे तो आत्मा की महत्ता प्रगट हो, और मनुष्यभव सार्थक कहलाये। इसके अतिरिक्त अन्य कहीं आत्मा की महत्ता नहीं है।

धन्य जीवन

(महिका ग्राम में वैशाख शुक्ला ४ के दिन पद्मनन्दि एकत्व अधिकार गाथा ६२ पर पूज्य श्रीकानजी स्वामी का प्रवचन)

जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अनादि से संसार में परिभ्रमण करते हुए उसने आत्मा से च्युत होकर शरीरादिपर की ही चिन्ता की है; परन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है और उसका संसार परिभ्रमण कैसे दूर हो? उसकी चिन्ता कभी नहीं की। इससे यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि जिसने आत्मा की; चिन्तामात्र का परिग्रह किया है, उसका जीवन भी प्रशन्सनीय है।

अस्तां तत्र स्थितो यस्तु चिन्तामात्र पहिग्रहः।
तस्यात्र जीवितं श्लाघ्यं दैवे रपि स पूज्यते॥६२॥

जो पुरुष इस शुद्धात्मा को पहचानकर उसके ध्यान में स्थिर रहते हैं, उनकी बात तो दूर रहो; किन्तु जो पुरुष शुद्धात्मा की चिन्ता का परिग्रह करनेवाला है, उसका भी जीवन इस संसार में प्रशन्सनीय है; और वह देवों द्वारा भी पूज्य है। इसलिए भव्य जीवों को सदा शुद्धात्मा का चिन्तन करना चाहिए।

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव महान सन्त दिगम्बर मुनि थे, वे वन में आत्मा की रमणता में रमते थे। वन में उन्होंने इस शास्त्र की रचना की है; उसमें वे कहते हैं कि–अहो! जो जीव, देह से और विकार से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर उसके ध्यान में स्थिर हों, उनकी बात तो दूर रहो, उनकी तो क्या बात कही जाये! परन्तु जिसके शुद्ध आत्मा की चिन्ता का मात्र परिग्रह वर्तता है, उसका जीवन भी धन्य है। लक्ष्मी आदि परिग्रह की पकड़ तो ममता और संसार का कारण है, इससे वैसे जीवन को धन्य नहीं कहते हैं, किन्तु जिसने चैतन्यतत्त्व की चिन्ता को पकड़ा है, उसके जीवन को सन्त प्रशंसनीय कहते हैं।

संसार में परिभ्रमण करते-करते अनन्तवार मनुष्यदेह प्राप्त करके आत्मा के भान बिना मरा, परन्तु आत्मा क्या है–वह बाता नहीं जानी; कभी आत्मा का यथार्थ विचार भी नहीं किया, इससे यहाँ उसकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि बाह्य चिन्ता को दूर करके जो आत्मा के स्वरूप में स्थिर हुए हैं, वे तो करने योग्य कार्य ही कर चुके हैं, उनकी क्या बात! परन्तु जिसके जगत् की चिन्ता छोड़कर आत्मा की चिन्ता की पकड़ भी हुई कि–अहो! अपने आत्मा को मैंने

अनन्तकाल में कभी नहीं पहिचाना, अनन्तकाल से कभी आत्मा का ध्यान नहीं किया, आत्मा को भूलकर बाह्य पदार्थों की चिन्ता में ही भटका हूँ। सत्समागम से आत्मा को जानकर उसी का ध्यान करने योग्य है;–ऐसी आत्मा की चिन्ता का परिग्रह करे–पकड़ करे–उसका जीवन भी प्रशंसनीय है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी इस पद्मनन्दि पंचविंशतिका शास्त्र को 'वनशास्त्र' कहते हैं। यह शास्त्र वन में रचा गया है और वन में रहकर ज्ञान-ध्यान करने के लिए यह शास्त्र है,–इससे इसे वनशास्त्र कहा है। आत्मा का भान करके उसके ध्यान में जो स्थिर हुआ है, उसे तो सर्वत्र वन ही है, उसका आत्मा ही उसका वन है।

अहा, मेरा स्वभाव जगत् का साक्षी ज्ञाता है; क्षणिक विकार या देह, वह मेरा स्वरूप नहीं है – इस प्रकार जिसके अन्तर में चैतन्य की चिन्ता जागृत हुई है, उसकी आचार्यदेव प्रशंसा करते हैं। अहो! जो वैसा जीवन जीते हैं, वही प्रशंसनीय हैं, बाकी जो चैतन्य के लक्ष्य रहित जीवन जीते हैं, वे तो मृतक समान हैं। यह शरीर तो संयोगी अनित्य है, यह तो अनेक आये और चले गये; परन्तु मेरा आत्मा अनादि-अनन्त एकरूप है, उसका कभी नाश नहीं होता–इस प्रकार जिसे दिन-रात आत्मा की चिन्ता लगी हुई है, आत्मा क्या है, उसका भान करने के लिए, ध्यान करने के लिए, भावना करने के लिए जिसे सदैव अन्तर में रटन लगी हुई है, उसका जीवन प्रशंसनीय है। जगत के जंजाल की चिन्ता में जिसे आत्मा के विचार का भी अवकाश नहीं है, उसका तो जीवन व्यर्थ चला जाता है। जगत के जंजाल की चिन्ता का भूत छूटकर जिसे आत्मा की चिन्ता का भूत सवार हुआ है, उसका जीवन धन्य है।

अमेरिका में ऐसी मशीन होती है कि उसमें अमुक पैसे डालने से अपने आप फोटो खिंचकर बाहर आ जाता है। लोगों को ऐसी मशीन का विश्वास आता है, परन्तु आनन्दकन्द आत्मा में जितनी पुरुषार्थ की एकाग्रता डाले, उतनी निर्मल पर्याय प्रगट हो अर्थात् जैसी पुरुषार्थ की एकाग्रता करे, वैसा ही फोटो पर्याय में खिंच जाये –ऐसी चैतन्यशक्ति का विश्वास जगत को नहीं बैठता है। चैतन्य शक्ति को पहचानकर उसकी मशीन में जितना पुरुषार्थ की एकाग्रतारूप मूल्य डाले, उतनी निर्मलदशा अन्तर की शक्ति में से प्रगट हुए बिना न रहे। प्रथम अन्तर में आत्मा की जिज्ञासा और मंथन जागृत होना चाहिए। अन्तर के चैतन्यतत्त्व को शोधने के लिए, उसका अनुभव करने के लिए, उसका साक्षात्कार करने के लिए और उसके ध्यान में स्थिर होने के लिऐ जिसके रात-दिन, स्वप्न में या जागृत अवस्था में, चलते-फिरते सदैव रटन रहती है, उसका जीवन

धन्य है। जैसे, माता से बिछुड़े हुए बालक को 'मेरी माँ, मेरी माँ'–इस प्रकार अपनी माता की ही रटन होती रहती है; कोई उससे पूछे कि तेरे नाम क्या? तो कहेगा कि 'मेरी माँ!' कोई उसे खाने के लिए पूछे तो कहेगा कि 'मेरी माँ!'–इस प्रकार वह माता की ही रटन करता है; उसी प्रकार जिन भव्य जीवों को अन्तर में आत्मा की दरकार जागृत हो, आत्मा की ही रटन और आत्मा की चिन्ता का भूत प्रगट करें, आत्मा के अतिरिक्त दूसरे की रुचि अन्तर में न होने दे, उनका जीवन धन्य है। अहो! पूर्ण चिदानन्द स्वरूप मेरी आत्मा है, उसका भान और प्राप्ति जब तक न हो, तब तक यथार्थ सुख या शान्ति नहीं होती। अभी तक का अनन्तकाल इसके भान बिना भ्रान्ति में व्यतीत किया, इस प्रकार आत्मा की चिन्तावाला जीव अन्य किसी की रुचि नहीं करता। जो इस चैतन्यस्वभाव का भान प्रगट करके, उसे ध्यान में ध्याते हैं, उनकी महिमा की बात ही क्या की जाये! उन्होंने तो कार्य प्रगट कर लिया है, इससे वे कृतकृत्य हैं। परन्तु जिन्होंने उसके कारणरूप रुचि प्रगट की है कि अहो! मेरा कार्य कैसे प्रगट हो? आनन्दकन्द आत्मा का अनुभव अन्तर से कैसे प्रगट हो :–ऐसी जिसे चिन्ता प्रगट हुई है, उस आत्मा का जीवन भी, सन्त आचार्य कहते हैं कि धन्य है, संसार में उसका जीवन प्रशंसनीय है। जगत में पैसा, स्त्री, शरीर आदि की चिन्ता बढ़ाई, उसका जीवन हम प्रशंसनीय नहीं कहते; परन्तु जिसने दूसरे परिग्रह की चिन्ता छोड़कर चैतन्य की चिन्ता का ही परिग्रह किया है, उसका जीवन शान्ति और समाधि देने के कारणरूप है, मनोहर है, रमणीय है, प्रशंसा करने योग्य है। देह छूटने के समय उसे अन्तर में आत्मा की शान्ति और समाधि प्रगट होगी, इससे उसका जीवन धन्य है। बड़े-बड़े देव आकर भी ऐसे भव्य जीवों की सेवा और आदर करते हैं। यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके करोड़ों की सम्पत्ति प्राप्त करे या मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने में जीवन बिताये, उसे यहाँ धन्य नहीं कहते; परन्तु अन्तर में जो चैतन्य की भावना करता है, उसका जीवन धन्य है।

इस जड़ शरीर से मैं भिन्न हूँ; अहो! मेरे आत्मा का क्या होगा? यह जड़ शरीर तो यहीं पड़ा रहेगा, और मैं तो अकेला जाऊँगा; शरीर भी मेरे साथ नहीं रहना है, तो फिर दूसरे स्त्री-कुटुम्ब-लक्ष्मी इत्यादि की तो क्या बात? विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा आत्मा नित्यस्थायी शुद्ध चिदानन्द है, सिद्ध भगवान जितना परिपूर्ण सामर्थ्य मुझमें भरा है, उसे में पहचान लूँ–इस प्रकार चौबीसों घण्टे अन्तर में रटन चलती है–ऐसे धर्म की चिन्तावाले भव्यात्माओं की देव भी सेवा करते हैं। पवित्रतावाले जीवों का पुण्यवन्त देव भी आदर करते हैं। आत्मस्वभाव के लक्ष्यवाला जीवन ही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त दूसरे जीवन को आदरणीय नही माना गया है। इसलिए

भव्यात्माओं को बारम्बार, शुद्धात्मा की चिन्ता में और उसी की रटन में रहना चाहिए;–ऐसा श्री आचार्यदेव का उपदेश है। शरीर-पैसा-कुटुम्ब या देश आदि का जो होना हो, वह होवे, उन्हें संयोगरूप से रहना हो तो रहें और जाना हो तो जायें, मेरे आत्मा से वे सब भिन्न हैं, मैं नित्य रहनेवाला चैतन्यबिम्ब हूँ, उसे पहचानकर उसमें स्थिर होऊँ–यही मेरा कर्तव्य है,–ऐसी जिसे रुचि और आतुरता हुई, उसे वह नित्य शान्ति और आनन्द देती है; उसका जीवन धन्य है। करने योग्य हो तो एक यही है।

भव का पार पाने के लिए

अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट करो!

(श्री पद्मनन्दि एकत्व अधिकार गाथा २६ पर मगसिर कृष्णा १३ के दिन चूडा शहर में पूज्य श्रीकानजी स्वामी का प्रवचन)

(१) विकार कहाँ होता है और कैसे दूर हो?

आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूपी पदार्थ है। उसकी वर्तमान अवस्था में अपनी भूल से विकार है। वह विकार पर के कारण होता है–ऐसा अज्ञानी मानता है, इससे वह विकार को टालने का उपाय भी बाह्य में मानता है। अभी, विकार अपनी अवस्था में स्वयं स्वतन्त्ररूप से करता है– इतना भी जो न समझे, वह जीव, विकार को टालने का यथार्थ उपाय नहीं कर सकता। विकार मैं करूँ तो होता है और न करूँ तो नहीं होता–इस प्रकार यदि विकार करने में अपनी स्वतन्त्रता माने तो उसे दूर करने में भी स्वतन्त्रता माने और विकाररहित स्वभाव के आश्रय से उसे दूर करें। जिस प्रकार मुँह पर का दाग दर्पण में दिखलायी दे, वहाँ कोई दर्पण में ही वह दाग मानकर काँच घिसने लगे तो उससे मुँह पर का दाग नहीं निकलेगा, क्योंकि दाग दर्पण में नहीं किन्तु मुँह पर है;–ऐसा जानकर यदि मुँह पर घिसे तो दाग निकल जाये। उसी प्रकार जीव की अवस्था में जो विकार होता

है, वह किसी निमित्त के कारण, शरीर की क्रिया के कारण या कर्म के उदय के कारण नहीं होता, परन्तु अपनी ही अवस्था के दोष से होता है,–ऐसा न समझकर यदि निमित्त के कारण, शरीर की क्रिया के कारण या कर्म के कारण विकार माने तो विकार को दूर करने के लिए उसे परसन्मुख देखना रहा; इससे उसका विकार कभी दूर नहीं होगा। विकार मेरे मूलस्वरूप में नहीं है और न कोई दूसरा मुझे विकार कराता है, परन्तु मेरी अवस्था में मेरे अपराध से ही विकार होता है–ऐसा यदि समझे तो स्वभावोन्मुख होकर उस विकार को दूर करे।

(२) आरम्भ -समारम्भ का अर्थ

जीव को धर्म या अधर्म अपनी अवस्था में होता है, किसी बाह्य क्रिया से धर्म या अधर्म नहीं होता। अधर्म कहीं बाह्य में–शरीर की क्रिया में नहीं रहता है। न तो बाह्य क्रिया से अधर्म होता है, और न बाह्य क्रिया से अधर्म दूर भी होता है। लोग कहते हैं कि आरम्भ-समारम्भ कम करो। और जिसके बाह्य क्रिया होती दिखायी न दे उसके आरम्भ-समारम्भ कम हो गया–ऐसा वे मानते हैं; परन्तु वह मान्यता मिथ्या है। आरम्भ-समारम्भ कहाँ रहता होगा? आत्मा में या जड़ में? आरम्भ-समारम्भ बाह्य क्रिया में नहीं है, परन्तु आत्मा की अवस्थ में अज्ञान और राग-द्वेष हो, वही आरम्भ और समारम्भ है। बाह्य में त्यागी होकर शान्त बैठा दिखायी दे, परन्तु अन्तर में 'यह देह की क्रिया मुझसे होती है और इससे मुझे लाभ होता है, अथवा तो शुभराग से मुझे लाभ होता है'–ऐसी मिथ्या मान्यता पड़ी है तो वह जीव महान आरम्भ ओर समारम्भ का कर्ता है; और सम्यग्दृष्टि जीव छह खण्ड के राज्य और छियानवे करोड़ लश्कर के बीच खड़ा हो, तथापि अन्तर में राग के एक अंश को भी अपना नहीं मानता, वह जीव मिथ्यात्वरूपी अनन्त आरम्भ-समारम्भ का त्यागी है। आरम्भ-समारम्भ किसे कहना, वह बात भी अभी लोगों ने नहीं सुनी है, और सब बाहर से मान लिया है। अन्तर का जो मार्ग है, वह एक ओर रह गया है। यह अन्तर की अपूर्व बात शान्त होकर समझना चाहिए।

(३) अपूर्व सम्यग्दर्शन कला

जीव को जहाँ अधर्म हो, वहाँ वह पलटकर धर्म होता है। अधर्म कहाँ होता है? आत्मा की अवस्था में अधर्म होता है। अधर्म कहाँ होता है, उसका भी अभी जीवों ने कभी विचार नहीं किया है। यदि बाह्य में अधर्म होता हो तो आत्मा उसे कभी छोड़ नहीं सकता। स्वभाव की भ्रान्ति से आत्मा की अवस्था में अधर्म होता है, और अन्तर्मुख अवलोकन करने से अर्थात् आत्मा के स्वभाव के भान से वह अधर्म दूर होकर धर्म होता है। सबसे पहली सम्यग्दर्शनकला कैसे प्रगट हो–उसकी यह बात है। ऐसा भान प्रगट किए बिना किसी जीव को सच्चे व्रत, तप, चारित्र नहीं

होते; सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनरूपी अपूर्व कला प्रगट किए बिना जीव जितना करे, वह सब अरण्य रुदन के समान अथवा इकाईरहित शून्य के समान है।

(४) भूल को दूर दे, उसकी बलिहारी!

देखो भाई! यह अपूर्व बात है; यह बात यदि जल्दी से समझ में न आये तो विशेष परिचय करना चाहिए। परन्तु इसे समझने के अतिरिक्त अन्य किसी मार्ग से अन्त नहीं आ सकता। सत्य का विरोध तो जगत के जीव अनादि से करते ही आये हैं; और वर्तमान में भी उसी प्रकार करें तो यह कुछ नवीन नहीं है। परन्तु सत्समागम पाकर अन्तर का पुरुषार्थ प्रगट करके अनन्तकाल की उस भूल को जो नष्ट कर दे, उसकी बलिहारी है। जीव अनन्तबार सन्तों के पास हो आया और उनके उपदेश का श्रवण किया, परन्तु अन्तर में पात्र होकर स्वयं नहीं समझा। वहाँ सन्तों की उपस्थिति से इसे क्या लाभ? जीव स्वयं पात्र होकर न समझे तो क्या कोई पर उसे समझा देने के लिए समर्थ है? स्वयं समझे तो भूल दूर हो।

(५) भूल और भगवान

जीव की अवस्था में भूल अनादि की है, तथापि सम्पूर्ण जीव स्वभाव उस भूल के साथ एकमेक नहीं हो गया है। भूल अनादि से होने पर भी, वह एक समय पर्यन्त की ही है। प्रत्येक समय में नवीन-नवीन भूल करके अनन्तकाल भूल में व्यतीत किया है। अवस्था की क्षणिक भूल, त्रिकाली निर्दोष स्वभाव का नाश करने में समर्थ नहीं है। भूल के समय भी उसे नष्ट करनेवाला भगवान भीतर विद्यमान है। एक समय के दोष को गौण करके त्रिकाल एकरूप रहनेवाले स्वभाव की ओर देखे तो भूल न रहे। भगवन्! अपने चैतन्यस्वभाव की जाति को जाने बिना बाहर से तुझे शान्ति मिले, ऐसा नहीं हो सकता। अपने स्वभाव की महिमा तो सुन! अपनी वर्तमान अवस्था को परोन्मुख न करते हुए स्वोन्मुख करके आत्मस्वभाव के साथ एकता प्रगट कर! अन्तर में एकत्व परमशान्त उपशमरस का कन्द तेरा आत्मा है, उसकी दृष्टि और आश्रय करके विकल्प छोड़, तो तुझमें ही शान्ति भरी है, उसका प्रगट अनुभव हो।

(६) सभी आत्मा भगवान हैं

सभी आत्मा यह बात समझ सकते हैं। सबका आत्मा एक समान है। यह पुरुष या स्त्री का शरीर दिखायी देता है, वह तो जड़ है; मैं उस जड़ शरीररूप नहीं हो गया हूँ, मैं तो आत्मा हूँ, मेरा ज्ञानस्वभाव है, और मुझमें परिपरिपूर्ण समझने की शक्ति भरी है।–ऐसा लक्ष्य लखकर श्रवण करना चाहिए। जैसे–सोने के १०० पाट हों, उन पर भिन्न-भिन्न डिजायन और तरह-तरह के रंगवाले कपड़े लपेटे हों तो उससे कहीं पाट का सोना कपड़ोंरूप नहीं हो जाता और ऊपरी कपड़ों

के भेद से कहीं पाटों में भेद नहीं पड़ जाता। कपड़े के भीतर सभी पाट समान हैं। उसी प्रकार इस देह-मन्दिर में भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यधातु है; वह ऊपर के चमड़े-शरीर के छोटे-बड़े आकार से छोटा-बड़ा नहीं हो जाता। समस्त आत्मा स्वभाव से देह से भिन्न सिद्ध भगवान जैसे हैं। किसी को छोटा शरीर, किसी को बड़ा शरीर, कोई काला, कोई गोरा, कोई मोटा, कोई पतला, किसी को पुरुष का शरीर और किसी को स्त्री का—इस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न प्रकार संयोगरूप से होने पर भी भीतर आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार का नहीं है; सभी आत्माओं का स्वभाव एक ही प्रकार का है, सभी चिदानन्द प्रभु हैं। अपने स्वभाव का अपने को विश्वास नहीं आता। स्वभाव के विश्वास बिना अन्य मार्ग से शान्ति हाथ नहीं आ सकती।

(७) धर्मी जीव का भेद-विज्ञान

मैं रागरहित परिपूर्ण ज्ञानानन्द हूँ—ऐसे अपने स्वभाव का भान होने के पश्चात् भी निचली भूमिका में धर्मी को राग-द्वेष होते अवश्य हैं, परन्तु उसी समय उनसे भिन्नत्व का भान है। राग के समय भी स्वभाव में एकता और राग से भिन्नता—ऐसा भेदज्ञान वर्तता है, इससे उनका ज्ञान क्रमशः चैतन्यस्वभाव में एकत्वरूप होता जाता है और राग-द्वेष दूर होते जाते हैं; परन्तु राग-द्वेष से पृथक चैतन्यस्वभाव को जाने बिना कभी अज्ञान या राग-द्वेष दूर नहीं होता।

(८) सच्ची समझ से ही अल्पकाल में भवसमुद्र से उद्धार

यह सम्यग्ज्ञान का उपाय कहा जाता है; और यही मुक्ति का मार्ग है। इसके अतिरिक्त अपने स्वच्छन्द से अन्य किसी उपाय से काम नहीं चल सकता। यदि सुई में डोरा पिरोया हो तो वह खोती नहीं है; उसी प्रकार अनन्तकाल में यह मनुष्य-अवतार प्राप्त करके यदि आत्मा में यथार्थ समझरूपी डोरा पिरो ले तो आत्मा, संसार में न भटके। भले कोई जीव निर्धन हो या नरक में भी हो, परन्तु अपूर्व समझ प्रगट करके जो आराधक हुआ, वह जीव एक-दो भव में इस संसार से छूट जायेगा। *(अपूर्ण)*

सच्चा ज्ञान कैसे हो?

जो सच्चा ज्ञान होने से आलस्य आदि समस्त दोष दूर होते हैं, वह सच्चा ज्ञान कैसे हो? तो कहते हैं कि सत्शास्त्र का श्रवण, धारण, विचारणा और अनुप्रेक्षापूर्वक अभ्यास होना चाहिए। सत्शास्त्र सुनने के साथ धारण होना चाहिए। देखो! जीवों को सच्चा सुख चाहिए है; वह सुख सर्व कर्मों के नष्ट होने से प्रगट होता है; कर्मों का नाश चारित्र से होता है; चारित्र, सम्यग्दर्शन-ज्ञान से होता है; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान, सत्शास्त्रों के श्रवण-धारण से होता है।

इसमें तो, जो कहते हैं, वह धारण कर लेने की बात है। 'सवेरे समयसार में कौन सा विषय चला था'–ऐसा पूछने से कोई कहे कि याद नहीं है;–तो ऐसा धारणारहित श्रवण नहीं चलेगा। लौकिक विषय में किसी के पास से रुपया लेना हो, तो बराबर याद रखता है; उस आदमी को देखते ही याद आ जाता है कि इस आदमी से इतना रुपया लेना है। जिस प्रकार वहाँ धारण की है, उसी प्रकार पात्र जीव सत्शास्त्र को भी यथार्थरूप से धारणकर ले और धारण कर लेने के पश्चात् भी उसकी विचारणा करनी चाहिए फिर आम्नाय चाहिए–अर्थात् बारम्बार मनन करे कि 'आत्मा शुद्ध, आत्मा ज्ञानस्वरूप, आत्मा ऐसा, उसके गुण ऐसे, उसकी स्पष्ट निर्मल ज्योति ऐसी'–इत्यादि प्रकार से अन्तर में फेरता रहे। और अनुप्रेक्षापूर्वक बारम्बार चिन्तवन करना चाहिए। यहाँ (सत्समागम में) आकर एक घण्टे तक सुन जाये और फिर घर जाकर दूसरी क्रियाएँ करने में लग जाये तो वह अनुप्रेक्षा नहीं कहलाती। धारण और अनुप्रेक्षा दोनों करने को कहा है, उसमें 'धारण' कहने से वर्तमान सुनने के समय याद रखने की बात है और 'अनुप्रेक्षा' कहने से उस याद रखी हुयी बात का पुनः विचार करने की बात है।

समस्त कल्याणों का मूलकारण आगम का यथार्थ निर्णय है। भगवान के कहे हुए परमागम शास्त्रों का मात्र अभ्यास नहीं परन्तु 'यथार्थ अभ्यास' करने को कहा है। शास्त्र के कथनानुसार बराबर आशय समझे, वह यथार्थ अभ्यास कहलाता है। परन्तु अपने को अनुकूल पड़े, उस प्रकार अर्थ बैठा ले तो वह यथार्थ अभ्यास नहीं है।

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

समयसार -प्रवचन (भाग-१)	[पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन] मूल्य ६-०-०
समयसार -प्रवचन (भाग-२)	[समयसार-प्रवचन का दूसरा भाग कार्तिक शुक्ला १५ के पहले मँगाने वालों को ६-८-० के बदले मात्र ५-०-० में दिया जायेगा।]
समयसार -प्रवचन (भाग-३,४)	तैयार हो रहे हैं।
मोक्षशास्त्र-टीका	तैयार हो रहा है।
भेदविज्ञान सार	[पूज्य श्री कानजीस्वामी के धार्मिक महोत्सव के दिनों में समयसार पर प्रवचन] छप रहा है।
जैन बालपोथी	०-४-०
मुक्ति का मार्ग (सत्तास्वरूप पर प्रवचन)	०-१०-०
मूल में भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	०-१२-०
वस्तुविज्ञान सार (जैन गीता)	जिज्ञासुओं को भेंट
नन्दीश्वर-द्वीप पूजन	०-१२-०
दशलक्षण-धर्म प्रवचन	०-१२-०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें (आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट)	१-२-०
प्रवचनसार (अक्षरशः हिन्दी अनुवाद)	६-८-०
आत्मधर्म की फाइलें	३-१२-०

[इस शास्त्रमाला की ५१ पुस्तकें प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें गुजराती भाषा में हैं, उनका सूची पत्र मँगा सकते हैं।]

—: मिलने का पता :—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)